नया प्रस्थान

1

संपादक

सतीश कुमार राय

कार्यकारी संपादक

राकेश रंजन

विश्वविद्यालय हिंदी विभाग

बाबासाहेब भीमराव अंबेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

नया प्रस्थान

वर्ष-1, अंक-1; जुलाई-दिसंबर, 2020

संपादक

सतीश कुमार राय

कार्यकारी संपादक

राकेश रंजन

सह-संपादक

सुशांत कुमार, संध्या पांडेय

संपादक-मंडल

त्रिविक्रम नारायण सिंह, धीरेंद्र प्रसाद राय, वीरेंद्रनाथ मिश्र, कल्याण कुमार झा

परामर्श-मंडल

रेवती रमण, रवींद्र उपाध्याय, पूनम सिंह

प्रबंध-संपादक

उज्ज्वल आलोक

संपादकीय संपर्क :

विश्वविद्यालय हिंदी विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय,

मुजफ्फरपुर (बिहार), पिन : 842001

मो. 9934203870, 7903285026

ई-मेल : nayaprasthan@gmail.com

मुद्रण : बी.के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण : विभांशु राज

मूल्य : 100 रुपए

अनुक्रम

संपादकीय : सतीश कुमार राय/5

स्मृति-शेष : नंदकिशोर नवल
आलोचना और मेरी आत्मस्वीकृतियाँ : नंदकिशोर नवल/17
दस कविताएँ : नंदकिशोर नवल/30
आलोचक को भी आजादी है कि वह चाहे जिस विषय पर लिखे
(नंदकिशोर नवल से राकेश रंजन की बातचीत)/38

लेख
केदारनाथ सिंह का काव्य-वैशिष्ट्य : रेवती रमण/52

विरासत
अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत और उनकी रचनाएँ : आलोक सिंह/64
घनानंद का काव्य : योगेश प्रताप शेखर/77

विशिष्ट कवि : मनोज कुमार झा
बिना नींद की रातों की स्वरलिपियाँ : राकेश रंजन/88
दस कविताएँ : मनोज कुमार झा/93

कविताएँ
दो कविताएँ : मदन कश्यप/102
पाँच प्रेम-कविताएँ : मनोज मोहन/106
पाँच कविताएँ : संजय कुंदन/109
पाँच कविताएँ : संजय शांडिल्य/114
चार कविताएँ : विपिन कुमार शर्मा/125
पाँच कविताएँ : शैलजा पाठक/129
चार कविताएँ : उज्ज्वल आलोक/137
तीन कविताएँ : जसिंता केरकेट्टा/141

कहानियाँ

सच्ची बात : चंद्रमोहन प्रधान/144
हवा की तरह मुक्त और विरक्त होकर कोई चला गया : पूनम सिंह/158
पुरइन की खुशबू : मनोज कुमार पांडेय/172
साइकिल बिटिया : सुशांत कुमार/176

विशिष्ट ग़ज़लगो : भावना

ग़ज़ल, समकालीन हिंदी ग़ज़ल और डॉ. भावना : सतीश कुमार राय/181
सात ग़ज़लें : भावना/187

गीत, ग़ज़लें, नज़्में

चार गीत : रवींद्र उपाध्याय/192
पाँच नज़्में : संजय कुमार कुंदन/197
पाँच ग़ज़लें : अरुण गोपाल/204
पाँच ग़ज़लें : सुरेश गुप्त/208
चार ग़ज़लें : पंकज कर्ण/212
दो ग़ज़लें : अनिता सिंह/215
दो ग़ज़लें : आरती कुमारी/217

एकांकी

बोया बीज बबूल का : दिवाकर राय/219

समीक्षाएँ

मगधनामा
इतिहास भी और साहित्य भी : सतीश कुमार राय/224
मैंने अपनी माँ को जन्म दिया है
जन्म देने की अनोखी पहल : चित्तरंजन कुमार/230
देखा है उन्हें
भीतर और बाहर से संवाद करती कविताएँ : समीक्षा सुरभि/234

इस अंक के रचनाकार/239

विशिष्ट कवि

बिना नींद की रातों की स्वरलिपियाँ

अपने हमउम्र कवियों में मनोज कुमार झा की कविताएँ अपनी 'नवीनता' के कारण मुझे प्रभावित करती हैं। उनमें कथ्य और रूप के प्रति एक नवाचार दिखाई देता है। वस्तुतः कला और साहित्य में 'नवीनता' शब्द कालबोधक नहीं, मूल्यबोधक होता है। यदि किसी रचनाकार के लेखन से साहित्य में कोई नई प्रवृत्ति उभरती दिखाई दे रही हो, तभी उसका स्वागत नए रचनाकार के रूप में करना चाहिए। मनोज की काव्य-संवेदना की जड़ें उनकी परिपक्व वैचारिकता तथा देश-काल के संदर्भों और सवालों के प्रति उनकी गंभीर सजगता में हैं। उनकी कविताएँ पूँजीवादी बाढ़ में भहराते मूल्यों की तकलीफदेह पहचान कराती हैं, साथ ही अभावग्रस्त और हताशा से भरे टूटते-बिखरते उस ग्रामीण जीवन की दर्दभरी तसवीर बयान करती हैं, जहाँ व्यवस्था की कोई राह और रोशनी नहीं पहुँचती। बेशक ग्रामीण जीवन की यह तसवीर मिथिलांचल की है, लेकिन इसमें गाँवों के देश भारत की वर्तमान ध्वस्त और धूसर होती आत्मा झलकती है। यानी 'जुज़्व' में 'कुल' दिखाई देता है। बकौल गालिब : "क़तरे में दजलः दिखाई न दे, और जुज़्व में कुल/ खेल लड़कों का हुआ, दीदः-ए-बीना न हुआ।" इस सिलसिले में काबिलेगौर है कि कथ्य की इन विशेषताओं से युक्त मनोज की कविताओं को जो चीज नई आभा प्रदान करती है, वह है उनकी कथन-भंगिमा। गालिब के ही शब्द लेकर कहें, तो अपनी पीढ़ी में उनका 'अंदाज़े-बयाँ और' है।

7 सितंबर, 1976 को बिहार के दरभंगा जिले के शंकरपुर माँउबेहट गाँव में जनमे मनोज कुमार झा गणित में स्नातक हैं। पिछले डेढ़ दशकों से उनकी कविताएँ हिंदी की सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं और अपनी विशेषताओं से हिंदी पाठकों को प्रभावित करती रही हैं। उनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हैं–'तथापि जीवन' (2012) तथा 'कदाचित अपूर्ण' (2018)। इनसे पहले 2009 में मासिक पत्रिका 'संवेद' की ओर से उनकी एक कविता-पुस्तिका प्रकाश में आई थी–'हम तक विचार'। मनोज को उनकी कविता 'स्थगन' के लिए वर्ष 2008 का भारतभूषण अग्रवाल पुरस्कार प्रदान किया गया था। निर्णायक अरुण कमल ने अपनी संस्तुति में कहा था :

"'स्थगन' कविता को निरीक्षण की नवीनता, बिंबों की सघनता और कथन की अप्रत्याशित भंगिमाओं के लिए रेखांकित किया जाता है। बार-बार घटित होने वाले एक पुरातन अनुभव और स्थिति को बिल्कुल नई तरह से रचते हुए यह कविता भारतीय ग्राम-जीवन को अद्यतन संदर्भों में प्रस्तुत करती है।" यह बात केवल 'स्थगन' के संदर्भ में नहीं, मनोज की समस्त कविताओं के संदर्भ में सही है। उनके कवि-कर्म को रेखांकित करते हुए उन्हें 2015 के भारतीय भाषा परिषद के युवा पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

मनोज जिस पीढ़ी के सदस्य हैं, उसका उदय हिंदी में इक्कीसवीं शताब्दी के आरंभ के साथ हुआ। द्रष्टव्य है कि दो शताब्दियों के संक्रमण-काल में आँख खोलनेवाली इस पीढ़ी ने उस विडंबनापूर्ण स्थिति को सबसे शिद्दत से देखा, भोगा और महसूस किया, जिसमें पूँजीवाद-प्रायोजित भूमंडलीकरण और बाजारीकरण के चलते वैश्विक तथा भारतीय जीवन में भारी बदलाव शुरू हुए। ये बदलाव सामाजिक, सांस्कृतिक–हर स्तर पर शुरू हुए और इनके प्रभावों ने मानवीय तथा सामाजिक चरित्र को बदलकर रख दिया। इन बदलावों ने सभ्यता और मनुष्यता के सामने जो संकट उपस्थित किया है, उसका गहरा एहसास मनोज को है। खास बात यह है कि उसकी अभिव्यक्ति के लिए वे जिस शिल्प और मुहावरे का प्रयोग करते हैं, वे उनके अपने हैं और उनमें बिंब-रचना तथा वातावरण-निर्माण की अद्‌भुत क्षमता है। यह क्षमता उनकी कविता को ऐंद्रिक प्रभाव से युक्त कर उसे व्यापक रूप से ग्राह्य बनाती है। उनकी कविताएँ गद्यात्मक हैं; बावजूद इसके, तकलीफ और हताशा से भरी कोमल संवेदना एवं विडंबना-बोध की बुनावट के कारण उपजा उनका कथ्य असरदार ढंग से सामने आता है।

मनोज की कविता आजाद भारत की चमक-दमक के भीतर मौजूद खोखलेपन को देख पाती है : "सच कह रहे थे रहमानी मियाँ कि सामान कितने भी करने लगे हों जगर-मगर/ आजादी दादी के नइहर से आई पितरिहा परात की तरह खाली ढन-ढन बजती है।" इन पंक्तियों में मौजूद ध्वनि-सौंदर्य भी देखने लायक है, जो नए कवियों में विरल है। यह सौंदर्य 'आजादी' के साथ 'दादी' के प्रयोग में तो है ही, 'पितरिहा परात की तरह' में 'प', 'त' एवं 'र' की आवृत्ति से वह और भी खिल उठा है। मनोज की भाषा में 'देसिल बयना' के सैकड़ों शब्द और मुहावरे रचे-बसे हैं–मिथिलांचल की माटी की खाँटी खुशबू से सने हुए। इससे उनकी लोक-निष्ठा और लोक-संपृक्ति जाहिर होती है। उनकी कविताओं में 'हिया के हंडे में हो रहा हड़हड़' जैसी अनेक

पदावलियाँ मिलती हैं, जो अपने अनुप्रास के कारण हिंदी काव्य-परंपरा से तो जुड़ती ही हैं, अपनी भाषा, बिंब और रूपक की नवीनता से उसे समृद्ध भी करती हैं।

मनोज की कविताओं का रूप-विन्यास अनगढ़ है। कई बार शब्दों और बिंबों की उनकी बुनावट कविता में अपरिचित लोक रचती है। कई बार उनकी उक्तियाँ अधूरी प्रतीत होती हैं। इसकी वजह यह है कि उनकी कविताएँ ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हैं, जो प्रायः त्रासद और जटिल हैं। ये अनुभूतियाँ अपनी मिट्टी से लगाव, अपनी लोक-परंपराओं को बचाए रखने की विफल होती कोशिश और अपनी बेचारगी की मिली-जुली संघटना भी हैं। 'उत्तर-यात्रा' कविता में वे कहते हैं : "कथरी पर सुग्गा काढ़ते भरथरी गाते/ जुते हुए बैल की तरह आया हूँ/ बंधनों से साँस रगड़ता और धरती से देह/ हरियाली के अफसोस में बदल जाने की पीर तले"। जुते हुए बैल के लिए हरियाली का अफसोस में बदल जाना! कहना न होगा कि यह अभिव्यक्ति 'अभाव' को कितने तीखेपन के साथ प्रकट करती है!

मनोज की कविताओं में हताशा का स्वर काफी गहरा है। इस स्वर की वजह उनकी सहज से सहज इच्छा और छोटी से छोटी उम्मीद का भी मरते जाना है। बच्चों को खेलाते-खेलाते सुलाकर सोना और दोस्त को फोन कर उसका हालचाल लेना भी उनके लिए सपना हो गया है : "बहुत देर तक बजता रहा फोन/ नहीं हुई हिम्मत कि जैसे छाती में नहीं कोई बात अब कहने की/ कौन खोंट लेता है मन पर उगी हरी दूब/ नोनही हुई जा रही पूरी की पूरी जमीन/ यह कौन छुपा रहा है मेरी इच्छाओं में तीर/ टिन के डिब्बे हो जाएँगे एक दिन मेरे बच्चे!/ क्या ऐसे ही लुका रहूँगा दीवार में ताउम्र/ फूटे घड़े की तरह कुएँ से बहुत दूर"। इन पंक्तियों को पढ़कर कवि की बेबस छटपटाहट महसूस की जा सकती है—और यह भी समझा जा सकता है कि पूँजीवादी व्याघात किस प्रकार मानवीय संवेदना को भोथरा कर रहा है!

मनोज की कविताओं में अँधेरे और सन्नाटे के बिंब बार-बार आते हैं। कई बार सन्नाटा 'इतना गफ' होता है कि उसमें साँस भी छाती पर सिर पटकती हुई-सी लगती है : "धाँय धाँय सिर पटकती छाती पर साँस"! ऐसे ही सन्नाटे और अँधेरे में अक्सर ऐसे बिंब अथवा कवि के ऐसे मनोभाव उभर आते हैं, जिनमें व्यवस्था के भयंकर मनुष्यहंता चरित्र तथा विकास के विरोधाभासी स्वरूप के बीच एक मनुष्य की विवशता, हताशा और तकलीफ दिखाई पड़ती है : "किसी मरघट में तो नहीं छुछुआ रहा/ चारों ओर उठ गई बड़ी बड़ी अटारियाँ

तो क्या यहीं अब प्रेतों का चरोखर/ लौट जाता हूँ घर, लौट जाऊँ मगर किस रस्ते–ये पगडंडियाँ प्रेतों की छायाएँ तो नहीं।" ये प्रेत इच्छाओं के प्रेत हैं : "घर को क्यों धाँग रहे इच्छाओं के अंधे प्रेत"। कहना न होगा कि ये इच्छाएँ पूँजीवादी हैं, जिन्होंने कवि-कलाकारों का भी चरित्र गिराया है, उनकी भी आत्मा पर आघात कर उसे विखंडित कर दिया है, उनकी भी सूर्य-चेतना पर लोभ-लाभ के राहु-केतु का पहरा बैठा दिया है। कवि इस सत्य से नावाकिफ नहीं है : "कवि जी ने गरीब गोतिया के घर से उखाड़ा था खंभा-बरेरा/ बहुत सगुनिया हुई सीढ़ी/ कवि जी गए बहुत ऊपर और बच्चा गया अमरीका/ गद्‌गद कवि जी गुदगुद सोफे पर बैठे थे/ जम्हाई लेते मंत्री जी ने बयान दिया–वक्त बहुत मुश्किल है/ कविता सुनाओगे या दारू पिओगे।"

मनोज की कविताओं में बेरोजगारी से उत्पन्न हद दरजे की बेबसी के बिंब भरे पड़े हैं : "ऐसे ही घूमते रहना काम माँगते धाम बदलते/ पॉलीथीन के झोले की तरह नालियों में बहता/ कभी किसी पत्थर से टकराता कभी मेढ़क से/ इस कोलतार के ड्रम से निकल उस कोलतार के ड्रम में फँसता"। कवि एक अदद नौकरी के लिए मंदिर से लेकर कसाईबारे तक भटकता-गिड़गिड़ाता है और इस प्रकार अपने बहाने से देश के अधिकांश युवावर्ग की दयनीयता को दर्शाता है : "पुजारी को तो यहाँ तक कहा कि आप थाल/ में मच्छर भगाने की चकरी रखेंगे तो/ उसे भी आरती मानूँगा और मनवाने की कोशिश करूँगा/ बस एक बार मौका दे दें इस मर्कट को/ कसाईवाड़ा गया कि मैं जानवरों की खाल गिन दूँगा/ आप जैसे गिनवाएँगे वैसे गिनूँगा आठ के बाद सीधे दस/ हुजूर! आप कहेंगे तो मैं अपने पाँच बच्चों को दो गिनूँगा"। कवि कहता है कि "रोटी मेरे हाथ की रेखाओं पर हँसती है और/ सब्जी मुझसे मेरी कीमत पूछती है"। यद्यपि इस 'याचक स्थिति' की आँखों में आत्माभिमान की सुरक्षा के स्वप्न हैं : "पाऊँ तो बित्ता भर जगह जहाँ रोऊँ तो गिरे आँसू/ बस धरती पर/ किसी के पाँव पर नहीं।" लेकिन स्थिति यह है कि वह रोटी की तलाश में अपने घर, अपने परिवेश से दूर है और उसका जी छटपटाता है। इस छटपटाहट में कोई आवेग नहीं, बल्कि एक असहायता है। उसे नींद नहीं आती। छूटा हुआ घर उसकी नींद के किवाड़ पर रात भर लिलार पटकता है। 'विकल्पहीन' वह सोचता है : "सोचा कर ही दूँ फोन यहाँ दिन नहीं कट पा रहे/ जहाँ भी जाता हूँ तलवे आँगन की मिट्टी खोजते हैं/ अब मैं लौट रहा हूँ नहीं होगा पैसे-वैसे का बंदोबस्त"। "बिन पैसे के दिनों और/ बिना नींद की रातों की स्वरलिपियाँ/ खुदी हैं आत्मा पर" उसकी। अभाव ऐसा कि वह पहली बार ए.सी. देखता है

"शवगृह से लाते वक्त चाचा का पीला शरीर"। इस हालत से तंग आकर वह बार-बार सिमरिया पुल से गंगा में कूदकर जान देने की बात सोचता है, मगर बार-बार उसे "बाँध लेती है ब्रह्मांड की यह हरी पुतली जिसमें हहाता जल अछोर नीला"। पृथ्वी का आकर्षण उसे बाँध लेता है। वह उसे 'ब्रह्मांड की हरी पुतली' कहकर अपने सौंदर्य-बोध का परिचय देता है। तमाम हताशा के बावजूद इस कवि की दिशा आशान्वित और विश्वासोन्मुख है, जिसका पता 'फिर भी जीवन' जैसी कविता की इन पंक्तियों से चलता है : "फिर भी घास थामती है रात का सिर और दिन के लिए लोढ़ती है ओस/ चार अँगुलियाँ गल गईं पिछले हिमपात में कनिष्ठा लगाती है काजल।"

राकेश रंजन